कबाड़ से जुगाड़: विज्ञान पढ़ाने का सबसे सरल तरीका!

अरविन्द गुप्ता के साथ बातचीत

आम तौर पर अरविन्द गुप्ता कुर्ता-पाजामा पहने रोज़मर्रा की चीज़ों को खिलौनों में तब्दील करते दिखाई देते हैं। विज्ञान को लोकप्रिय बनाना, उनके जीवन का सबसे पहला ध्येय है। यू-ट्यूब पर मौजूद विभिन्न वीडियो तथा उनकी बहुत सारी किताबों के ज़रिए दुनिया के कोने-कोने में उनका सन्देश पहुँच रहा है। आज हम शिक्षा के क्षेत्र में उनकी इसी यात्रा के बारे में बात करेंगे। हम उनसे पूछेंगे कि कैसे उन्होंने माचिस की तीलियों से अपने मशहूर खिलौने बनाए और वह क्या शय है जो उन्हें इस दिलचस्प काम को जारी रखने के लिए हौसला और प्रेरणा देती है।

? **विवेक वेलांकी**: सबसे पहले तो विज्ञान, शिक्षा और अध्यापन के क्षेत्र में आपके सफर से ही बात शुरू करते हैं। सत्तर के दशक में आपने आईआईटी कानपुर में दाखिला लिया। वहाँ से यह सिलसिला किस तरह शुरू हुआ था?

अरविन्द गुप्ता: आईआईटी कानपुर में मैं उत्तर प्रदेश के एक बहुत छोटे-से कस्बे बरेली से आया था। मेरे माँ-बाप तो कभी स्कूल गए नहीं थे। यों तो मेरी माँ बेहद शिक्षित परिवार से थीं मगर लड़की होने की वजह से वे कभी स्कूल नहीं जा पाईं, हालाँकि उनके भाइयों को काफी आला दर्जे की तालीम मिली थी। हमारा समाज औरतों के साथ बहुत ज़्यादा भेदभाव करता है। लिहाज़ा, शिक्षा के महत्व को मेरी माँ से बेहतर भला और कौन समझ सकता था! इसीलिए उन्होंने अपने सारे बच्चों को बढ़िया-से-बढ़िया स्कूलों में पढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ रखी थी। 1970 में मैंने सरकारी इंटर कॉलेज से बारहवीं का इम्तिहान दिया था। इम्तिहान का नतीजा अच्छा रहा। मैं पूरे ज़िले में अव्वल आया और आईआईटी कानपुर में मेरा दाखिला हो गया। मेरे लिए एक नई दुनिया का दरवाज़ा खुल गया था।



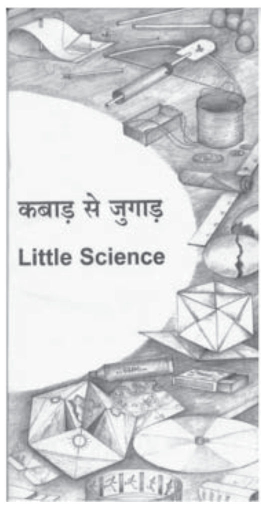
एक छोटे-से कस्बे में पले-बढ़े लड़के के लिए यह एक विश्वस्तरीय संस्थान था। यहाँ की लाइब्रेरी सुबह 8 बजे से रात 2 बजे तक खुली रहती थी। लाइब्रेरी से हम लोग एक साथ 10 किताबें ले सकते थे। वहाँ एक शानदार कम्प्यूटर सेंटर था। संगी-साथी और अध्यापक, सबमें एक लगन थी। ज़्यादातर अध्यापक अमेरिका से पढ़कर आए थे। लब्बो-लुआब यह कि एक छोटे-से कस्बे के लड़के की आँखों के सामने एक बिलकुल नई और अवसरों से भरपूर, चुनौतीपूर्ण दुनिया खुलती जा रही थी। मैं इससे पहले एक कॉन्वेंट स्कूल में पढ़ा था। यहाँ आईआईटी कानपुर में इसके अन्तर्विरोध साफ दिखाई दे रहे थे। इस इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना में अमेरिकी सरकार ने 200 करोड़ का योगदान दिया था। यहाँ दो मुख्य स्कूल थे – अपॉरच्युनिटी स्कूल और केन्द्रीय विद्यालय। मैस कर्मचारियों या मालियों के बच्चों को इनमें से किसी भी स्कूल में दाखिला नहीं मिलता था।

इन हालातों को देखकर हममें से कुछ विद्यार्थियों ने 'सहयोग' नाम से एक संस्था बनाई थी। हम छात्रावास के हर कमरे में जाकर पाँच-पाँच रुपए इकट्ठा करते थे ताकि इन बच्चों को स्कूल भेज सकें। बहुत सारे तो हमें देखते ही दरवाज़ा बन्द कर लेते थे, मगर कुछ काफी दरिया-दिल थे और पैसा देकर हमारी मदद करते थे। हममें से छह लोग इन स्कूलों में पढ़ाने के लिए तैयार हो गए और हममें से हर छात्र हफ्ते में एक दिन अपनी कक्षाएँ छोड़ने लगा था। यह शिक्षा की दुनिया में मेरा पहला अनुभव था। एक अच्छा संस्थान अपने ढंग से आपकी रूह में उतर जाता है और आपको पता भी नहीं चलता। मेरे खयाल में यही इस संस्थान की खासियत थी। आपको सिर्फ अव्वल दर्जे की तकनीकी सामग्री ही पढ़ने को नहीं मिलती बल्कि आप एक नई दुनिया से रूबरू हो जाते हैं। पूरी दुनिया से! इंजीनियरिंग में कितना कुछ है, यह तब पता चलता है! यह पाँच-साला इंजीनियरिंग कोर्स था और पहले आठ सेमेस्टर के दौरान हमें समाज-

विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, समाज-शास्त्र, विकास और पिछड़ेपन पर भी पाठ्यक्रम और पाठ्यसामग्री से गुज़रना होता था, इसलिए मेरा खयाल है कि आप एकायामी व्यक्ति की जगह समस्याओं को अलग-अलग कोणों से तथा ज़्यादा समावेशी ढंग से देखना सीख जाते हैं।

? **विवेक वेलांकी:** आपने कबाड़ से खिलौने बनाने के बारे में काफी कुछ लिखा है। आपकी मशहूर किताब 'मैचस्टिक मॉडल एण्ड अदर साईंस एक्सपेरिमेंट्स' का कई भाषाओं में कई बार प्रकाशन हो चुका है। मॉडल बनाने के लिए माचिस की तीलियों और वॉल्व ट्यूब का इस्तेमाल न केवल दिलचस्प है बल्कि बेइन्तहा सम्भावनाओं का रास्ता भी खोलता है। क्या आप बताएँगे कि आपको यह खयाल कैसे आया और इस रास्ते पर चलकर बच्चों ने किस-किस तरह के दिलचस्प डिज़ाइन बनाए हैं?

अरविन्द गुप्ता: 1972 में डॉ. अनिल सद्गोपाल को आईआईटी कानपुर में एक गेस्ट लेक्चरर की हैसियत से बुलाया गया था। एक तरफ मैं था जो क्लास की सबसे पिछली बैंचों पर बैठा रहता था और दूसरी तरफ हमारे सामने एक ऐसा शख्स था जो केलिफॉर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी से पीएच.डी. करके आया था। डॉ. सद्गोपाल मॉलिक्यूलर बायोलॉजिस्ट थे और टीआईएफआर जैसे आला संस्थानों में काम कर चुके थे। वे रॉयल सोसायटी के फैलो उबेद सिद्दीकी के सहकर्मी रह चुके थे और भारत में विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम शुरू करने के लिए अपनी नौकरी छोड़कर आए थे। उनकी सारी चिन्ता इस बात को लेकर थी कि हमारे ज़्यादातर गाँवों में विज्ञान की कोई प्रयोगशाला नहीं होती। हमारे बच्चे परिभाषाओं, सूत्रों को रटते चले जाते हैं और इम्तिहान में उन्हीं को उड़ेलकर लौट आते हैं। ये बच्चे कभी अपने हाथ खराब नहीं करते, और डॉ. सद्गोपाल के हिसाब से यह विज्ञान के प्रति बहुत ही बेरहमी वाला ढंग है।



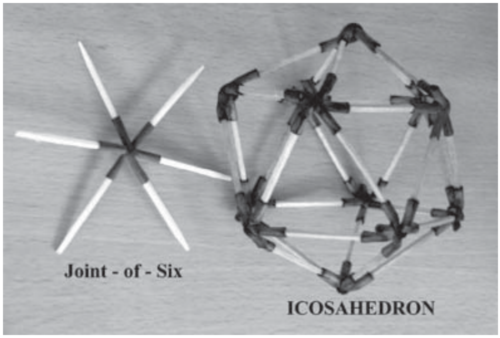
1975 में मैंने इंजीनियरिंग की डिग्री हासिल की और टाटा मोटर्स में मुलाज़मत ले ली। मैं ऊपर से नीचे तक हरे कपड़े पहने वेल्डिंग करता था या किसी खराब मशीन पर जुटा रहता था। दो साल होते-होते मुझे यह एहसास कचोटने लगा था कि मैं ट्रक बनाने के लिए पैदा नहीं हुआ हूँ!

अक्सर आपको यह इल्म नहीं होता कि आप अपनी ज़िन्दगी में क्या करना चाहते हैं मगर यदि आप यही जान जाएँ कि आप क्या नहीं करना चाहते हैं तो भी गनीमत है। मुझे अनिल सद्‌गोपाल का वह लेक्चर फिर याद आने लगा और मैं बोरिया-बिस्तर लपेटकर एक महीने के लिए 'किशोर भारती' की तरफ रवाना हो गया। कुछ दिनों बाद मैंने कम्पनी से साल भर की छुट्‌टी ले ली। यह एक साल मैंने एक बहुत ही साधारण और गरीब गाँव में बिताया। यहाँ सिर्फ एक साप्ताहिक हाट लगता था। लोग सड़क किनारे अपना सामान फैलाकर बैठ जाते थे और दुकान जम जाती थी। मुझे अन्दाज़ा था कि मैं यहाँ साल-डेढ़ साल रहने वाला हूँ इसलिए मैं इस हाट में आने-जाने लगा। मैं वहाँ से तरह-तरह की फालतू चीज़ें खरीद लाता। काँच के टुकड़े, चूड़ियाँ, छोटी-बड़ी डिब्बियाँ और न जाने क्या-क्या! एक दिन मैं अपनी साइकिल में हवा भर रहा था तो मुझे दुकान पर साइकिल की वॉल्व-ट्यूब भी लटकी दिखाई दे गई। यह 10 पैसे प्रति फुट की कीमत पर मुहैया थी और मैंने 10 फुट ट्यूब खरीद ली।

मुझे तरह-तरह की चीज़ें आकर्षित करती हैं। पहले ही महीने में मैं माचिस की तीलियों से प्रयोग करने लगा था। एक दिन यूँ ही करते-करते बड़ी मुश्किल से माचिस की एक तीली साइकिल वॉल्व की ट्यूब में चली गई। दूसरी तरफ से मैंने एक स्प्रिंग डाल दी ताकि यह एक लचीला जोड़ बन जाए। यह एक नए सिलसिले की शुरुआत थी। पहले महीने के दौरान मैं बहुत सारी दो-आयामी आकृतियाँ बनाता रहा। आप त्रिकोण, आयत, अष्टकोण, पंचकोण, तरह-तरह की आकृतियाँ बना सकते थे। फिर आप छेद करके तीन भुजाओं का जोड़ बना सकते थे, उसमें से दो तीलियों को आर-पार निकालकर चार का जोड़, छह का जोड़ बना सकते थे, आप तरह-तरह की त्रि-आयामी आकृतियाँ बना सकते थे और यह सब कुछ ऐसी चीज़ों से हो रहा था जो निहायत लोकल थीं।

अगर आपके पास माचिस की तीली नहीं है तो आप घर पर आग नहीं जला सकते। अगर छह लाख से ज़्यादा गाँवों में कोई एक मशीनी चीज़ ज़रूर मौजूद है तो वो साइकिल ही है। यानी ये दोनों चीज़ें (साइकिल की वॉल्व-ट्यूब और माचिस की तीली) बिलकुल स्थानीय चीज़ें थीं और यही वह मशहूर मैचस्टिक मिकेनो था। 1985 में मैंने अपनी पहली किताब लिखी जिसको लोगों ने हाथों-हाथ लिया और वह जल्दी ही 12 भाषाओं में प्रकाशित हुई। यह किताब हिट हुई क्योंकि इसमें कुछ नई बात थी। इसमें सिर्फ यहाँ-वहाँ से चीज़ें उठाकर नहीं डाल दी गई थीं। यह एक ऐसी चीज़ थी जो खालिस हमारी अपनी दुनिया से उपजी थी - और इसकी कुल जमा कहानी बस इतनी ही थी।

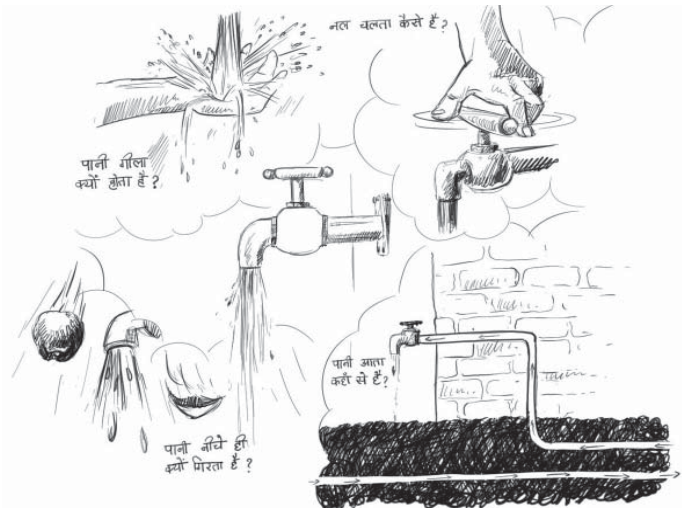
? **विवेक वेलांकी**: अब आपको लोग टॉयमेकर, खिलौना आविष्कारक और कचरे से खिलौने बनाने वाला जीनियस कहने लगे हैं। आपने विज्ञान को परम्परागत प्रयोगशाला से बाहर ला दिया है, उसे दैनिक चीज़ों से जोड़ दिया है। आपके हिसाब से यह बात इतनी अहम क्यों है? क्या इससे हमारे स्कूलों में विज्ञान के प्रति हमारे रवैये में भी बदलाव आ सकते हैं?



अरविन्द गुप्ता: देखिए, मैं भारत के कमोबेश 2500 स्कूलों में जा चुका हूँ और 30 मुल्कों में काम कर चुका हूँ। मैं जिस भी स्कूल में जाता हूँ, वहाँ मैं विज्ञान की प्रयोगशाला ज़रूर देखना चाहता हूँ क्योंकि मेरा इस विषय से लगाव ही कुछ ऐसा है। हर स्कूल, चाहे नगरपालिका का स्कूल हो, ग्रामीण स्कूल हो, अव्वल दर्जे का अन्तर्राष्ट्रीय स्कूल हो - चाहे कोई भी स्कूल हो - वहाँ आपको ब्यूरेट (माप नलिका) और पीपेट तो मिलेंगे ही और अगर आपके पास एक पैनी नज़र है तो आप इन सारे उपकरणों पर धूल की परत भी साफ देख सकते हैं। ये सारी चीज़ें स्कूल इंस्पेक्टरों को प्रभावित करने के मकसद से मँगाई जाती हैं न कि बच्चों को पढ़ाने के मकसद से। यह बड़ी शर्मिन्दगी की बात है।

पाठ्यचर्याएँ अक्सर बेहद राजनीतिक और संकुचित होती हैं। जीवन इससे कहीं ज़्यादा व्यापक होता है। स्कूल में आने से पहले ही बच्चा बेहिसाब विज्ञान कर चुका होता है। मगर स्कूल के पास यह जानने का कोई तरीका नहीं होता कि बच्चे ने अब तक क्या कुछ किया है। और यह जाने बिना ही हम उसे एक उबाऊ पाठ्यचर्या में धकेल देते हैं। हम हर बच्चे पर बना-बनाया मुलम्मा चढ़ाने लगते हैं जबकि बच्चा खाना बनाने के खेल में, आने-जाने में, पैदल चलने में, समाज के साथ जुड़ने में कितने सारे विज्ञान से गुज़र चुका होता है। आपने नल खोला और पानी बहने लगा, इस छोटी-सी क्रिया में कितना सारा विज्ञान छिपा हुआ है - पानी कहाँ से आया, यह क्यों बहता है, है कि नहीं!

बिना किसी के कहे, बच्चे हर वक्त विज्ञान से ही जूझते रहते हैं। पहले हम सोचते थे कि अगर हम विज्ञान को कक्षा की इस शुष्क, उबाऊ चार-दीवारी



से निकाल लें और उसे बच्चों के हाथों में सौंप दें जहाँ माचिस की खाली डिब्बियाँ या रिफिल पेन, अखबार, साइकिल की ट्यूब यानी रोज़मर्रा इस्तेमाल की चीज़ें विज्ञान के प्रयोगों का विषय बन जाती हैं, तो बच्चे काफी कुछ ज़्यादा अच्छी तरह सीख पाएँगे।

? **विवेक वेलांकी**: आप विज्ञान को लोकप्रिय बनाने में लगे हुए हैं और आपने इस दिशा में काफी काम किया है। आपने बहुत सारी किताबें लिखी हैं और वीडियो बनाए हैं। इन सबसे पहले जो सवाल उठता है, वह यह है कि विज्ञान को लोकप्रिय बनाना क्यों महत्वपूर्ण है?

अरविन्द गुप्ता: देखिए, हम एक लोकतांत्रिक समाज में रहते हैं। हम किसी निरंकुशवादी राज्य के नागरिक नहीं हैं। एक लोकतांत्रिक समाज में विज्ञान का फल समाज के सबसे हाशियाई तबकों तक, समाज के सबसे गरीब तबकों तक भी पहुँचना चाहिए। मैं सिर्फ विज्ञान का ही हिमायती नहीं हूँ। यह कितना ही अच्छा होगा अगर और ज़्यादा बच्चे कविताएँ लिखने लगें, कला रचने लगें, भव्य कहानियाँ लिखने लगें, विज्ञान का अध्ययन करने लगें... विज्ञान कोई भगवान की गाय नहीं है, सभी विषय समान महत्व के हैं। विज्ञान ने परमाणु बम या हाइड्रोजन बम भी बनाए हैं और यह बड़े शर्म की बात है। आज दुनिया का आधे से ज़्यादा शोध युद्ध अनुसन्धानों पर केन्द्रित है। इस बिन्दु पर हमें विज्ञान पर सवाल उठाना होगा। मगर दूसरी

तरफ विज्ञान ने ही हमें बहुत सारे दैनिक मसलों के हल भी मुहैया कराए हैं। मान लीजिए कि हमारे पास पानी का एक पम्प है और पूरे ग्रामीण भारत में पानी का पम्प ही पीने का पानी हासिल करने का सबसे सुरक्षित ज़रिया हैं, क्योंकि अगर आप खुले जल स्रोतों से पानी लेंगे तो ये प्रदूषित हो सकते हैं मगर यदि पानी सतह के 200 फुट नीचे से निकाला जा रहा है तो वह तुलनात्मक रूप से साफ होगा और उसे पीने में ज़्यादा खतरा नहीं है। लिहाज़ा, हरेक को समझना चाहिए कि पम्प कैसे काम करता है। एक किताब है 'पम्प्स फ्रॉम दि डम्प' और हमारी वेबसाइट पर 30 पम्प दिखाए गए हैं। हमारे पास हर रोज़ दुनियाभर से अध्यापकों के खतों की बाढ़ आती रहती है। इनमें अमेरिकी अध्यापकों के पत्र भी शामिल हैं। वे कहते हैं कि पहली बार उनके बच्चे वास्तव के इन पम्पों को बनाकर यह सीख पाए हैं कि पम्प कैसे काम करते हैं।

? **विवेक वेलांकी**: अपने लेखन में आपने अक्सर इस बात का संकेत दिया है कि मौजूदा स्कूली व्यवस्था, हमारी पाठ्यपुस्तकें और पढ़ाने के तौर-तरीके इस तरह की सोच के लिए हानिकारक हैं। क्या आप खास तौर से भारत के प्रसंग में मौजूदा स्कूली व्यवस्था की समस्या पर रोशनी डाल सकते हैं?

अरविन्द गुप्ता: जैसा कि मैंने पहले कहा था, पाठ्यचर्या – मान लीजिए एनसीईआरटी की पाठ्यचर्या को ही लें... जब प्रोफेसर कृष्ण कुमार एनसीईआरटी के डायरेक्टर थे तो वहाँ कुछ सकारात्मक कोशिशें की गईं। नगरपालिका स्कूलों या गाँवों की पाठशालाओं में पढ़ने वाले लाखों बच्चों के लिए सम्भवतः पाठ्यपुस्तकें ही एकमात्र लिखित सामग्री होती हैं। उनके पास किस्से-कहानियों की किताबें नहीं होतीं, कोई पूरक सामग्री नहीं होती। इसी बात को ध्यान में रखते हुए कृष्ण कुमार ने कहा कि अगर हम देश के श्रेष्ठतम लोगों, श्रेष्ठतम लेखकों, श्रेष्ठतम चित्रकारों को लेकर अपनी स्कूली पुस्तकों में रचनात्मक ऊर्जा का समावेश कर दें तो हम एक छोटी-सी सही मगर अहम भूमिका निभा रहे होंगे। अपने पाँच साल के कार्यकाल में वे इसी दिशा में प्रयास करते रहे।

यकीन मानिए, आज एनसीईआरटी की किताबें निजी क्षेत्र के लिए भी पैमाना बन चुकी हैं। यह है जो एनसीईआरटी कर सकता था, और उसने कर दिखाया। एनसीईआरटी ने तो बहुत सकारात्मक रास्ता खोल दिया है मगर हमारे ऊपर आज भी 'चॉक एण्ड टॉक' पद्धति का औपनिवेशिक खुमार चढ़ा हुआ है जहाँ बच्चों को लेक्चर दिए जाते हैं, बच्चों को रटने के लिए कहा जाता है और वे इम्तिहान में जाकर रटा हुआ उगल देते हैं।

विज्ञान तो तैराकी जैसा है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तैराकी में आपके पास पीएच.डी. है या नहीं। जब तक आप खुद पानी में छलांग नहीं लगा पाएँगे, अपने हाथों से छपाक-छपाक नहीं करेंगे तब तक आप तैरना नहीं सीख सकते। यही किस्सा विज्ञान के साथ है। आप सारे सूत्र सीख सकते हैं। सारी परिभाषाओं को सही-सही याद कर सकते हैं। मगर जब तक आप यहाँ-वहाँ भटकेंगे नहीं, अपने हाथ गन्दे नहीं करेंगे, सचमुच की चीज़ें नहीं बनाएँगे, उनको सिद्धान्त से जोड़कर यह नहीं देखेंगे कि क्या नतीजा निकला है तब तक आपका ज्ञान अधूरा रहेगा, एकायामी बना रहेगा। मेरे खयाल में हमें एक गहरे शिक्षाशास्त्रीय बदलाव की ज़रूरत है। मेरे खयाल में सही सुझावों की कोई कमी नहीं है, तमाम प्रगतिशील स्कूल परियोजना-प्रोजेक्ट मैथड की बात कर रहे हैं। होशंगाबाद साईंस टीचिंग प्रोग्राम भी हमारे सामने है जो मेरे खयाल में विज्ञान शिक्षा के क्षेत्र में एक पथप्रदर्शक प्रयोग था। यह पूरे देश में सबसे बड़ा गतिविधि आधारित विज्ञान कार्यक्रम था जिसमें 1500 ग्रामीण स्कूलों को शामिल किया गया था और उसमें एक लाख से ज़्यादा बच्चे विज्ञान सीख रहे थे। बाद में मध्य प्रदेश सरकार ने इसको बन्द कर दिया जो कि बहुत ही शर्म की बात है।



? **विवेक वेलांकी**: आपने उच्च शिक्षा के बारे में भी समय-समय पर बात की है। आपने 2008 के अपने एक इंटरव्यू में इस बात का भी ज़िक्र किया था कि जब बच्चे माध्यमिक कक्षाओं में पहुँचते हैं तो क्या होता है। आपने कहा था, "आज आईआईटी कोचिंग इंडस्ट्री 10,000 करोड़ रुपए से ऊपर जा चुकी है। माँ-बाप की शह पर यह बच्चों की बुद्धि और रचनात्मकता को पीट-पीट कर भोथरा बना देती है। इस बर्बरता पर विराम लगाना ज़रूरी है।" क्या आप इसके बारे में कुछ कहना चाहेंगे?

अरविन्द गुप्ता: मुझे यह बात बहुत गहरे तौर पर चुभती है। मेरे खयाल में 10,000 करोड़ भी अब बहुत मामूली रकम रह गई है, यह उद्योग इससे कहीं ज़्यादा फैल चुका है, क्योंकि जो भी आज आईआईटी में दाखिला लेना चाहता है, उसे इन कोचिंग की दुकानों से तो गुज़रना ही पड़ता है। पहले बच्चे के दसवीं के इम्तिहानों के बाद यह कोचिंग शुरू होती थी और दो साल तक आप इनमें खटते थे। अब ये संस्थान छठी या सातवीं कक्षा से ही बच्चों को अपने जाल में फँसा लेते हैं। इन भयानक दुकानों में बच्चों को भीषण मानसिक यंत्रणा का सामना करना पड़ता है।

यहाँ उनकी उत्सुकता, चीज़ों को सुलझाने की उनकी चाह, सब खत्म कर दी जाती हैं। मैं खुद अपने अनुभव से बता सकता हूँ। चालीस साल पहले हमारे पास कोचिंग इंस्टीट्यूट नहीं हुआ करते थे। हम सामान्य कुशाग्र बुद्धि वाले बच्चे होते थे और हमारे भीतर यह जानने की उत्सुकता होती थी कि दुनिया कैसे चलती है। आईआईटी में पहुँचने पर भी हम बहुत दिलचस्प चीज़ें किया करते थे। जब हमने देखा कि मैस कर्मचारियों के बच्चे स्कूल नहीं जा पा रहे हैं तो हमने उनके लिए स्कूल बनवाया। अगर वहाँ कोई अन्याय होता था तो हम उसके खिलाफ आवाज़ उठाते थे। मेरा खयाल है कि आजकल माँ-बाप अपने बच्चों की कोचिंग में इतना निवेश कर चुके होते हैं कि बच्चों के सामने सीधी लकीर पर चलने के अलावा कोई चारा नहीं होता। उनके पास सवालों के जवाब देने, विदेश जाने और मोटी रकमें कमाने की धुन सवार रहती है। इसी कारण उनमें से बहुत सारे तो फाइनेंस और ऐसे क्षेत्रों में चले जाते हैं जिनका उनकी पढ़ाई से दूर-दूर तक कोई ताल्लुक नहीं होता।

इसके अलावा, पहले आईआईटी के स्नातक कार्यक्रम भी पाँच साल के हुआ करते थे और उनमें समाज-विज्ञान का काफी बड़ा हिस्सा होता था। अगर आपको प्रोफेसर यशपाल कमेटी के बारे में याद हो, जिसका गठन यही सुझाने के लिए किया गया था कि आईआईटी की पढ़ाई को कैसे और



व्यापक बनाया जाए, तो आप पाएँगे कि कमेटी ने इस बात का साफ उल्लेख किया है कि न केवल समाज-विज्ञान के पाठ्यक्रमों को शामिल किया जाना चाहिए बल्कि आईआईटी में कभी-कभार संगीत कार्यक्रमों का भी आयोजन किया जाना चाहिए। प्रो. यशपाल ने खास तौर से इस बात का ज़िक्र किया है कि आपको आईआईटी में कलाकारों, शिल्पकारों की स्थायी नियुक्ति करनी चाहिए और समाज-विज्ञान के इस पहलू पर बहुत गम्भीरता से ध्यान दिया जाना चाहिए। असल में, समाज-विज्ञान ही है जो समाज के बारे में हमें मूल्य-मान्यताएँ सिखाता है और अगर आप किसी भी समस्या को देखें तो उसका तकनीकी आयाम बहुत ही छोटा होता है, मगर उसके राजनीतिक आयाम कई गुना बड़े होते हैं।

? **विवेक वेलांकी:** इस समस्या पर आपकी वेबसाइट पर भी किताबों और पाठ्यसामग्री का भण्डार जमा हो चुका है। यह संकलन पाठ्य सामग्रियों को शिक्षा की प्रक्रिया का अभिन्न अंग मानने के आपके विश्वास का नतीजा है। क्या आप इस पर कुछ रोशनी डालना चाहेंगे?

अरविन्द गुप्ता: मेरी वेबसाइट पर एक नारा दिया गया है जो सत्तर के दशक में ऑक्सफेम द्वारा जारी किए गए एक पोस्टर से चुराया गया है। नारा यह है – "दुनिया के किसी कोने में इंजीनियर कुछ लोगों को आवाज़ से भी तेज़ रफ्तार से उड़ाने की जुगत कर रहे हैं और दुनिया के बहुत

सारे इलाकों में इंजीनियर उन लोगों की दुनिया में रोशनी ला रहे हैं जिनके पास उड़ने का चारा नहीं है।" यह नारा हमारे दौर के अन्तर्विरोध को बहुत बेरहमी से सामने ला देता है। मैं हज़ारों स्कूलों में जा चुका हूँ, और जहाँ भी गया हूँ, पुस्तकालयों को तालों में बन्द पाया है। इक्का-दुक्का स्कूल हो सकते हैं जहाँ एक मेहनती प्रधानाचार्य और लाइब्रेरियन हों। मगर ज़्यादातर स्कूलों में लाइब्रेरी बन्द ही मिलती है। अगर लाइब्रेरी होती भी है तो बच्चों को किताबें नहीं मिलतीं। अब आधुनिक प्रौद्योगिकी हमें दुनिया के इस समृद्धतम भण्डार को साझा करने की सुविधा दे रही है।

प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग एक भव्य स्वप्न था। कुछ बहुत आला दिमागों ने यह सपना देखा था और उनका नारा था – "एक बिलियन लोगों के लिए एक मिलियन किताबें।" दुनिया की एक-एक किताब, हर भाषा की एक-एक किताब का डिजिटल संस्करण तैयार करके, उसे मुफ्त उपलब्ध कराया जा सकता है। यह 10 साल पहले की पैदल प्रौद्योगिकी थी। बहुत लघु स्तर पर मैं भी अपनी वेबसाइट पर कुछ ऐसी ही चेष्टा कर रहा हूँ। शिक्षा, पर्यावरण, विज्ञान, अन्तरिक्ष सम्बन्धी और दुनिया भर का बाल साहित्य इकट्ठा करके हम उसे हिन्दी, मराठी और अन्य बहुत सारी विविध भाषाओं में अनुवाद कराते हैं। फिर उनका पीडीएफ बनाकर अपनी वेबसाइट पर डाल देते हैं। आज इस वेबसाइट पर 4,000 किताबें जमा हो चुकी हैं और हर रोज़ हमारी वेबसाइट से हज़ारों किताबें डाउनलोड की जा रही हैं। यह देखकर हमें थोड़ा सन्तोष होता है क्योंकि डिजिटल पुस्तकें ही हमारा भविष्य हैं।

मुझे नहीं मालूम कि आत्मा और परमात्मा किस बला का नाम है मगर जब मैं मर जाऊँगा तो साइबरस्पेस में कहीं-न-कहीं यह वेबसाइट तैरती रहेगी। यही मेरी आत्मा की सच्ची अभिव्यक्ति होगी। हमारे पास बहुत सारी समृद्ध भाषाओं में हज़ारों किताबें हैं। हमारी 22 राजकीय भाषाएँ हैं जिनमें से ज़्यादातर में किताबों की दोबारा छपाई नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकाशकों के लिए उनमें ज़्यादा फायदा नहीं है। मगर इन किताबों का डिजिटलाइज़ेशन करके, उन्हें हमारी वेबसाइट पर डाला जा सकता है। इसमें कुछ तकनीकी समस्याएँ भी रहती हैं। आपको लेखक के मरने के बाद 60 साल तक इन्तज़ार करना पड़ता है। यह कॉपीराइट कानून का प्रावधान है। यह कॉपीराइट कानून कभी गुफा युग में बने थे। अब दुनिया बहुत आगे जा चुकी है और हमें उन पर नए सिरे से सोचने की ज़रूरत है। जो किताबें 20 साल पुरानी हो चुकी हैं या अब बाज़ार में नहीं मिलतीं, उनका डिजिटलाइज़ेशन करके उन्हें वेबसाइट पर डाल देना चाहिए ताकि तमाम बच्चे और समूची इंसानियत उनका लाभ उठा सके।

? **विवेक वेलांकी**: बच्चों के साहित्य से भी आपका गहरा प्रेम रहा है। और मेरे खयाल से हमें इस चर्चा के अन्त में आपकी सबसे पसन्दीदा किताब का ज़िक्र तो करना ही चाहिए – वह किताब जो आपकी राय में सभी पाठकों को लाज़मी तौर पर पढ़नी चाहिए।

अरविन्द गुप्ता: 'सडाको एण्ड दि थाउज़ेंड पेपर क्रेन्स' मेरी सबसे पसन्दीदा किताबों में से एक है। इसका मैंने हिन्दी में अनुवाद भी किया है। यह सडाको की सच्ची कहानी पर आधारित है। सडाको की उम्र उस समय केवल दो साल थी जब अमेरिका ने हिरोशिमा पर एटम बम गिराया था। सडाको का घर उस जगह से नौ किलोमीटर दूर था जहाँ बम गिराया गया था और लिहाज़ा, सडाको की जान बच गई थी। हिरोशिमा के पुनर्निर्माण के बाद वह स्कूल जाने लगी। वह अपने स्कूल में सबकी आँखों का तारा थी। कुछ साल बाद एक दफे वह स्कूल की रिले रेस के लिए अभ्यास कर रही थी। इसी दौरान मैदान में ही उसे चक्कर आने लगे और उस पर सुस्ती छाने लगी। स्कूल वाले उसे पास ही में स्थित रेड क्रॉस अस्पताल लेकर गए। अस्पताल में जाँच करने पर पता चला कि उसे ल्यूकीमिया यानी खून का कैंसर है। यह जानकर तो उसका दिल बैठ गया। तभी एक दिन उसकी सहेली शिज़ूको उससे मिलने आई। उसने सडाको को बताया कि जापान में कहावत है कि अगर तुम कागज़ की छोटी-छोटी 100 सारस (क्रेन) बना दो तो भगवान तुम्हारी दुआ कुबूल कर लेता है।

पहली रात को सडाको ने कागज़ की दो सारस बनाईं। उसके लिए ज़िन्दगी की सारी उम्मीद इन्हीं कागज़ के टुकड़ों में बची थी। छह महीने में उसने



565 सारस बना दी थीं और फिर वह हमसे विदा हो गई। उसकी याद में एक 'इंटरनैशनल सोसायटी ऑफ पेपर्स क्रेन्स' आज सक्रिय है। हर साल दो करोड़ से ज़्यादा बच्चे कागज़ की सारसें बनाते हैं और उन्हें हिरोशिमा भेजा जाता है। इस पूरी कवायद का सन्देश यह होता है कि 'ये हमारी दुआएँ हैं, ये हमारे आँसू हैं – हमारी खातिर, अब जंग फिर न हो।' हमारा ज़्यादातर साहित्य सिर्फ युद्ध के बारे में है। हमारे देश में तो शान्ति पर कोई बढ़िया किताब ढूँढ़ना ही मुश्किल है। इसीलिए मैंने इस किताब का अनुवाद किया और अब यह सात भारतीय भाषाओं में छप चुकी है। मैं और भी युद्ध विरोधी किताबों का अनुवाद करना चाहता हूँ। यह शान्ति की चाह का सवाल है। यह किताब भी आप वेबसाइट से डाउनलोड कर सकते हैं। मैं हर रोज़ तीन घण्टे हिन्दी में अनुवाद करता हूँ। नतीजतन, हिन्दी में अब बहुत सारी किताबें हैं जिन्हें मेरी वेबसाइट से आप डाउनलोड कर सकते हैं।

अरविन्द गुप्ता: विज्ञान तथा वैज्ञानिक गतिविधियों पर 25 के करीब किताबें लिखी हैं तथा 170 किताबों का हिन्दी में अनुवाद किया है। उनकी विज्ञान पर आधारित 125 फिल्मों को दूरदर्शन पर प्रस्तुत भी किया गया है। उन्हें कई सम्मान प्राप्त हुए हैं जिसमें साइंस पॉप्युलराइज़ेशन अमंगस्ट चिल्ड्रन का पहला राष्ट्रीय पुरस्कार (1988) उल्लेखनीय है। सन् 2018 में उन्हें पद्मश्री से भी नवाज़ा गया। विज्ञान, खिलौनों तथा किताबों के अपने प्रेम को वे अपनी वेबसाईट https://www.arvindguptatoys.com/ के द्वारा साझा करते हैं।

विवेक वेलांकी: फिलहाल, मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी स्थित कॉलेज ऑफ एजुकेशन के करिक्युलम, इंस्ट्रक्शन एण्ड टीचर एजुकेशन विभाग से पीएच.डी. कर रहे हैं। जिस समय यह साक्षात्कार रिकॉर्ड किया गया था, उस समय वे रीजनल रिसोर्स सेंटर फॉर एलिमेंटरी एजुकेशन (आरआरसीईई), दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोजेक्ट ऑफिसर के पद पर काम कर रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक सुधार, आलोचनात्मक सिद्धान्त, जाति, नस्ल और जेंडर आदि सवाल उनके शोध का मुख्य विषय रहे हैं।
सम्पर्क: vivek.vellanki@gmail.com

अँग्रेज़ी से अनुवाद: योगेंद्र दत्त।

सभी चित्र: निशित मेहता: महाराजा सयाजीराव युनिवर्सिटी ऑफ वडोदरा से विज़ुअल आर्ट्स में स्नातक और कला का इतिहास विषय में स्नातकोत्तर। चित्रकार, लेखक व एटलस स्किलटेक यूनिवर्सिटी, मुम्बई में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

यह साक्षात्कार क्षेत्रीय प्रारम्भिक शिक्षा संसाधन केन्द्र (आरआरसीईई), दिल्ली यूनिवर्सिटी द्वारा डायलॉगिंग एजुकेशन श्रृंखला के तहत रिकॉर्ड किए गए साक्षात्कार का सम्पादित संस्करण है। इस संकलन के साक्षात्कारों को लिखित और ऑडियो माध्यमों में www.rrcee.net पर भी देखा जा सकता है। सम्पादक - विवेक वेलांकी व पूनम बत्रा।